सामाजिक विज्ञान की नई पाठ्यपुस्तकें

कुमकुम रॉय

हाल ही में (2016) राजस्थान सरकार ने सरकारी विद्यालयों के लिए पाठ्यपुस्तकों की एक नई शृंखला प्रकाशित की है। यह हमारे लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि उनके 'प्राक्कथन' के अनुसार (उदाहरण, सामाजिक विज्ञान, कक्षा-6, पृ. iii), यह 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा और 2009 के शिक्षा का अधिकार कानून को व्यवस्थित करने का एक प्रयास है। हम यह सोचकर चल सकते हैं कि इस प्रयास की सफलता विद्यालयों में इनके प्रयोग से ही स्पष्ट हो सकती है। लेकिन इसके अलावा भी कुछ सवालों पर चर्चा की आवश्यकता है। इस लेख में मैं इस प्रकार के कुछ बिन्दुओं के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश करूंगी, जिनके बारे में सोचने की जरूरत है। यहां मैं कुछ उदाहरणों के माध्यम से ही चर्चा को आगे बढ़ाने की कोशिश करूंगी, हालाकि पूरी शृंखला का बारीकी से मूल्यांकन करना आवश्यक है किन्तु यह सीमित परिधि में संभव नहीं है।

पृष्ठभूमि

शुरू करते हैं शिक्षा के लक्ष्यों से। हर किताब के प्राक्कथन में दो परस्पर विरोधी अवधारणाओं का समावेश देखा जा सकता है - एक 2005 की रूपरेखा के अनुसार, ''हमारी सीखने की प्रक्रिया इस प्रकार हो कि बालक स्वयं अपने अनुभवों के आधार पर समझकर ज्ञान का निर्माण करे।'' (सामाजिक विज्ञान, पृ. iii)। लेकिन साथ ही हम पढ़ते हैंः

''पाठ्यपुस्तक तैयार करने में यह ध्यान रखा गया है कि पाठ्यपुस्तक सरल, सुगम, सुरुचिपूर्ण, सुग्राह्य एवं आकर्षक हो, जिससे बालक सरल भाषा, चित्रों एवं विभिन्न गतिविधियों के माध्यम से इनमें उपलब्ध ज्ञान को आत्मसात कर सकें, साथ ही वह अपने सामाजिक एवं स्थानीय परिवेश से जुड़े तथा ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक गौरव, संवैधानिक मूल्यों के प्रति समझ एवं निष्ठा बनाते हुए एक अच्छे नागरिक के रूप में अपने-आप को स्थापित कर सके।'' इसकी तुलना 2005 की रूपरेखा पर आधारित राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एनसीईआरटी) के *सामाजिक विज्ञान - पृथ्वीः हमारा आवास* (2006, पृ. iii), के आमुख से करेंः

''हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आजादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना, सामग्री से जुड़कर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों एवं स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तकों को परीक्षा का एक मात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सृजन और पहल को विकसित करने के लिए जरूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएं, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।''

दृष्टियों का फर्क सैद्धांतिक लग सकता है, लेकिन इसको अगर हम बदलती हुई शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ में देखें, तो इसके परिणाम के बारे में सोचना जरूरी है। पिछले एक दशक में शिक्षा व्यवस्था में निजीकरण का व्यापक विस्तार नजर आ रहा है - सरकारी शिक्षा संस्थानों की स्थिति पर चर्चा होती रही है। लेकिन सुधार के प्रमाण स्पष्ट नहीं हैं - इस स्थिति में आम तौर से जिनके आर्थिक और सामाजिक अधिकार व क्षमता सबसे सीमित हैं, वे ही सरकारी संस्थानों में प्रवेश करते हैं। विद्यालय की शिक्षा व्यवस्था में विभेदीकरण तेजी से बढ़ रहा है, और इस स्थिति में ज्यादातर लड़कियां, गरीब परिवार के बच्चे, 'निम्न' जाति या अल्पसंख्यक समुदाय के बच्चे ही सरकारी विद्यालयों में आ रहे हैं। अगर वास्तव में शिक्षा के अधिकार को इनके लिए लाभदायक बनाना है तो इन्हें 'ज्ञान आत्मसात' करना नहीं, बल्कि अपने-आप सोचने का मौका उपलब्ध करवाना चाहिए।

चित्रों का प्रयोग

चर्चा शुरू करते हैं बाल पुस्तकों के एक आवश्यक अंग चित्रों से। इस शृंखला में कई प्रकार के चित्रों का प्रयोग हुआ है। इनमें रेखा चित्र, फोटो, मानचित्र, नक्शा इत्यादि शामिल हैं। अनेक चित्र साफ और आकर्षक हैं लेकिन कुछ चित्र, विशेषकर कक्षा 6 से 8 की पुस्तकों में अस्पष्ट हैं और इनको शैक्षणिक प्रयोग में लाने में समस्याएं होंगी। उदाहरण के तौर पर, कक्षा 6 अध्याय 20 (प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था) को देखें- इसमें तीन मानचित्र हैं (पृ. 143, 145, 147), लेकिन किसी एक को भी देखकर उससे तथ्य निकालना लगभग असंभव है। इस स्थिति में विद्यार्थियों को गद्यांश में दिए गए तथ्यों की ही पुनरावृत्ति करनी होगी।

चित्रों के प्रयोग की एक अन्य समस्या भी है। पर्यावरण अध्ययन, कक्षा 3, पाठ 12 (हमारे गौरव-I) में चार व्यक्तियों के रेखाचित्र हैं- नागार्जुन, जगदीश चन्द्र बोस, भगिनी निवेदिता और महात्मा गांधी। फर्क यह है कि अन्तिम तीन व्यक्तियों के लिए समकालीन फोटो भी उपलब्ध हैं, जिससे हम अंदाजा लगा सकते हैं कि उनके चेहरे कैसे थे। मगर नागार्जुन का चित्र काल्पनिक है - उनके लिए कोई समकालीन चित्र या मूर्ति उपलब्ध नहीं है। विद्यार्थियों के लिए इन दोनों में अन्तर समझना जरूरी है, लेकिन दिए गए चित्रों के आधार पर यह समझ बनाना मुश्किल होगा। इस तरह से ऐतिहासिक परिवर्तनों के बारे में विचार करने का एक अच्छा मौका खो जाता है। इसी तरह सामाजिक विज्ञान, कक्षा 6, पाठ 3 (अंतरिक्ष खोज) में आर्यभट्ट, युनानी दार्शनिक/वैज्ञानिक इराटोस्थनेस और भास्कराचार्य-II के चित्र दिए गए हैं। लेकिन जहां इराटोस्थनेस का चित्र समकालीन मूर्ति कला पर आधारित है, आर्यभट्ट और भास्कराचार्य के कोई प्राचीन चित्र उपलब्ध नहीं हैं। इससे प्रत्येक संस्कृति/सभ्यता में याद रखने के अलग-अलग तरीकों पर सोचने और समझने का काम किया जा सकता था - कुछ परिस्थितियों में 'वास्तविक' चित्र के माध्यम से जबकि अन्य परिस्थितियों में मौखिक या लिखित माध्यम से व्यक्ति या घटनाओं को याद रखा जाता है - इस विविधता को समझना एक रोचक चुनौती है, लेकिन इसका इस्तेमाल नहीं हुआ। इस प्रकार से शिक्षा के माध्यम के रूप में चित्रों का प्रयोग अधूरा रह जाता है। एक अन्य चित्र जिसका प्रयोग बार-बार नजर आता है (उदाहरण, कक्षा 6 से 8 तक के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के अंश के हर पन्ने के हाशिए तथा कक्षा 7 के कवर पृष्ट पर) राष्ट्रीय ध्वज पर आधारित है। इसमें ध्वज के अशोक चक्र के चारों ओर प्रमुख धर्मों के प्रतीक/चिह्न अंकित किए गए हैं। क्या यह सिर्फ कलात्मक है? और क्या राष्ट्रीय प्रतीकों को लेकर इस प्रकार के प्रयोग एक सरकारी पुस्तक का हिस्सा बन सकते हैं?

सवाल और सोच

इस शृंखला के प्रत्येक पाठ के अंत में कुछ अभ्यास प्रश्न दिए गए हैं। अगर हम इनका विश्लेषण करें तो हम पाएंगे कि ज्यादातर सवालों के जवाब सिर्फ पाठ्यपुस्तक की सामग्री को याद करके ही दिए जा सकते हैं - यानी इनके जवाब देने में विद्यार्थी को सोचने का कोई मौका नहीं है। उदाहरण के तौर पर हम कक्षा आठ के *सामाजिक विज्ञान* के पाठ 'राष्ट्रीय सुरक्षा' (पृ. 122) को ले सकते हैं - इसमें पहले सवाल में सही विकल्प चुनना है, दूसरे में स्तम्भों को मिलाना है, तीसरे में रिक्त स्थानों की पूर्ति करना है, चौथे में राष्ट्रीय सुरक्षा के दो भागों को बताना है, पांचवें में सेना के तीन अंग बताने हैं, छठवें में थल सेना की निगरानी में नियुक्त बलों का नाम बताना है, सातवें में उत्तर-पूर्व में नियुक्त बल

का नाम, आठवें में जल सीमा पर नियुक्ति और नवें में देश की सुरक्षा में नागरिकों के पांच कर्तव्य बताने हैं। स्पष्ट है कि सुरक्षा की परिभाषा पर कोई सवाल उठाने व गैर सैनिक माध्यम से सुरक्षा संभव है या नहीं, इस बारे में सोचने की कोई गुंजाइश यहां नहीं है।

एक लोकतांत्रिक नागरिक के लिए सोचने की क्षमता बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसके विकास से ही विभिन्न दृष्टियों से अलग-अलग पहलुओं पर चर्चा करना और निर्णय लेना संभव होता है। शिक्षा व्यवस्था और विद्यालय सोचने के तरीके और उसके प्रयोग करना सिखा सकते हैं। लेकिन अगर पाठ्यपुस्तक के हर अध्याय के अंत में सिर्फ इसी प्रकार के सवालों का सामना करना पड़ता हो तो विद्यार्थी का वक्त सही जवाब ढूंढ़ने और रटने में खर्च हो जाएगा, सोचने का अवसर नहीं मिलेगा।

इतिहास की अवधारणा

यह स्पष्ट है कि इस शृंखला के प्रवर्तकों के लिए इतिहास बहुत ही महत्वपूर्ण है। कक्षा तीन के प्राक्कथन से ही 'ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक गौरव' की बात की गई है (पृ. iii), और इसकी पुनरावृत्ति हरेक कक्षा के प्राक्कथन में की गई है। इस संदर्भ में दो सवाल महत्वपूर्ण व जरूरी हैं - क्या 'गौरव' की अभिव्यक्ति ही इतिहास का एक मात्र लक्ष्य है? और इस 'गौरव' को हम किन दृष्टियों से देखें और समझें?

'हमारे गौरव' को अगर हम लें, तो इसमें कक्षा तीन में नागार्जुन, जगदीश चंद्र बोस, भगिनी निवेदिता, महात्मा गांधी और बिरसा मुंडा की संक्षिप्त जीवनियां प्राप्त होती हैं, कक्षा चार में चरक, सुश्रुत, रानी दुर्गावती, वीर सावरकर और सरदार पटेल तथा कक्षा 5 में विक्रम साराभाई, होमी जहांगीर भाभा, जिजाबाई, डॉ. भीमराव अम्बेडकर और पण्डित मदनमोहन मालवीय शामिल हैं। स्पष्ट है कि इस तालिका में 'महापुरुषों' का प्रधान्य है, 'महामहिलाओं' की संख्या कम है और मुसलमान या इसाई महापुरुष या महिला की कोई जगह नहीं है। 'महामहिला' बनने के सिर्फ दो तरीके पेश किए गए हैं - या तो वीरांगना बनना या फिर माता या समाज सेविका के रूप में। इसके विपरीत महापुरुष बनने के लिए वैज्ञानिक, राजनैतिक नेता, शिक्षाविद इत्यादि बनने की संभावना है। कक्षा 6 तक आते-आते यह परिधि और भी सीमित हो जाती है - 'शिक्षकों के लिए' (पृ. vii) में बताया गया है कि ''पाठ्यपुस्तक में वीर पुरुषों एवं वीरांगनाओं की जीवनियों को भी बालकों को केन्द्र में रखते हुए सम्मिलित किया गया है।'' गौरव की परिभाषा इस प्रकार से सिर्फ संघर्ष में वीरता प्रदर्शन तक सीमित हो जाती है।

लेकिन इससे भी बड़ा मौलिक सवाल यह है - क्या हम इतिहास को सिर्फ कुछ गिने-चुने व्यक्तियों की उपलब्धियों से समझें, या इसकी गहराई में प्रवेश करने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करें? जीवनी ही अगर हमारे प्रवेश पाठ हैं, तो आम व्यक्तियों के जीवन के बारे में हम क्या जानते हैं और कैसे? आम आदमी (और औरत) का इतिहास भी रोचक हो सकता है - और इसको जानना इसलिए आवश्यक है क्योंकि अगर हम लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से बहुसंख्यक लोगों की गिनती करने की कोशिश करें तो अमर्त्य सेन (Argumentative India, P. 55) के शब्दों में, बहुसंख्यक वही हैं जो आर्थिक दृष्टिकोण से निम्न या मध्यम वर्ग के हैं, यानी कम से कम कुल जनसंख्या का 60 प्रतिशत लोग जिनके पास पूंजी नहीं है, जो ग्रामीण इलाकों में रहते हैं और जो धार्मिक असहिष्णुता का विरोध करते हैं। पिछले कुछ दशकों के ऐतिहासिक शोध से इन वर्गों के बारे में काफी जानकारी उपलब्ध है - एनसीईआरटी 2005 के आधार पर लिखित इतिहास की पुस्तकों में उनकी झलक है - जहां शिकारी, पशुपालक, छोटे किसान, आम औरत की जिंदगी पर चर्चा है - लेकिन राजस्थान सरकार के इस नए प्रयास में इन्हें इतिहास के पन्नों से लगभग हटा दिया गया - कक्षा 7 की किताब में इतिहास पर दिए 6 अध्यायों में से 2 में सिर्फ युद्ध और योद्धाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

एक अन्य समस्या जो देखने को मिलती है, यह है कि इतिहास की जानकारी कैसे प्राप्त की जा सकती है, इस पर चर्चा का अभाव। कक्षा 6 में इतिहास के स्रोत की एक संक्षिप्त तालिका है, लेकिन इसके बाद, कौनसी जानकारी कहां से और कैसे प्राप्त हुई इसके बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। यानी शायद यह उम्मीद की जा रही है कि विद्यार्थी पुस्तक के सभी तथ्यों को मानकर चलेंगे, इन पर सवाल उठाने का कोई मौका नहीं है।

इतिहास के हर संकलन में कुछ तथ्यों को शामिल किया जाता है और कुछ को छोड़ दिया जाता है। यह इसलिए क्योंकि 'सब कुछ' बताना संभव नहीं होता है। लेकिन तथ्यों का चयन किस आधार पर हो रहा है, इसको समझना और समझाना जरूरी होता है। इस संदर्भ में कक्षा 8 के 'राष्ट्रीय आंदोलन' के अध्याय को देखें - इसमें लाला लाजपत राय, भगत सिंह, हेमू कालानी और सुभाषचन्द्र बोस की मृत्यु पर चर्चा है, लेकिन महात्मा गांधी की मृत्यु का कोई जिक्र नहीं है। इसके बाद के अध्याय, 'आजादी के बाद का भारत' में विभाजन और विस्थापन का उल्लेख है लेकिन विद्यार्थी यह नहीं जान पाएंगे कि लाखों की संख्या में लोगों को भारत छोड़ना पड़ा था - यानी विस्थापन कोई एक तरफा गतिविधि नहीं थी। और ना ही इस संदर्भ में गांधी जी की हत्या का कोई जिक्र है। इस प्रकार के तथ्यों से विद्यार्थी को वंचित करने से उनकी समझ की गहराई बढ़ाना मुश्किल है।

एक अन्य बात भी आश्यर्चजनक है - अब इतिहासकारों ने शोध के माध्यम से स्थापित किया है कि राष्ट्रीय आंदोलन की एक विशेषता थी कि इसमें सभी सामाजिक और आर्थिक स्तर की औरतें आंदोलन में शामिल हुई थीं - किसान से लेकर उच्च वर्ग की महिलाओं तक। लेकिन इनका जिक्र अध्याय में कहीं भी नहीं मिलता। इसी तरह आजादी के बाद के जन आंदोलनों में से सिर्फ चिपको आंदोलन का जिक्र है (उदाहरण, कक्षा 5, पृ. 35) - बाकी आंदोलनों का इतिहास लुप्त है। इनकी जानकारी इक्कीसवी सदी के नागरिक के लिए आवश्यक है। क्योंकि प्रचलित कथन के अनुसार आज विद्यार्थी ही हमारे देश के भविष्य के निर्माता हैं। इसके अलावा तथ्यों को सही रूप से सामने रखने में भी गलतियां हैं। उदाहरण के तौर पर, कक्षा 6, पृष्ठ 114 में हम पाते हैं, ''पत्थर या धातु पत्र पर जो लेख उत्कीर्ण किए जाते हैं, उन्हें शिलालेख कहते हैं।'' शिलालेख का शाब्दिक अर्थ है पत्थरों पर उत्कीर्ण अभिलेख - इसे धातु के लिए प्रयोग करना असंभव है। इस तरह की गलतियां सुधारना आसान है, लेकिन इतिहास के विस्तार को कुछ गिने-चुने व्यक्तियों की जीवनियों तक सीमित करने का प्रयास विद्यार्थियों के प्रति अन्याय है।

समाज की समझ

समाज की समझ बनाना इन पुस्तकों का घोषित लक्ष्य है। उदारहण के तौर पर, 'शिक्षकों के लिए', (कक्षा 3, पृ. vi) में 'जेंडर संवेदनशीलता' पर जोर दिया गया है। लेकिन इस उच्च और कठिन आदर्श को पूरा करने में कई समस्याएं दिखाई देती हैं। एक समस्या है शब्द चयन की - क्योंकि हिन्दी में क्रिया, विशेषण लिंग पर आधारित होते हैं इनके प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप से हमारी समझ बना सकते हैं और बदल भी सकते हैं। लक्षित किया गया है कि अनेक जगहों पर पुस्तक में पाठक/पाठिका की 'बालक' के रूप में कल्पना की गई है - (उदाहरण, कक्षा 6, पृ. vii) और शिक्षक/शिक्षिका को शिक्षक या गुरूजी (उदाहरण, कक्षा 6, पृ. 113) कहा गया है। यानी इस दृष्टिकोण से आदर्श विद्यार्थी और आदर्श शिक्षक पुरुष हैं।

लेकिन और भी समस्याएं हैं। 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अब एक नारा बन गया है। समस्या यह है कि इसे हकीकत में कैसे बदलें? पाठ्यपुस्तकों में लड़कियों का जिक्र कब और कैसे आता है, इस पर विचार करना आवश्यक है। कक्षा 6 (पृ. 5) में एक बेटी के जन्म पर उसे, 'प्यारी-सी गुड़िया' कहा गया है। बेटी के जन्म पर खुशी जताना अच्छी बात है, लेकिन बेटी को गुड़िया की तरह समझना उसके व्यतित्व के विकास के लिए हानिकारक हो सकता है। इस दिशा में आगे बढ़ते हुए, 'खेल-खेल में' नामक पाठ में (कक्षा-3, पाठ-3) चार चित्रों में से सिर्फ एक में लड़की को बाहर खेलते हुए दिखाया गया है। दल बनाकर खेलने का हक क्या सिर्फ लड़कों का है? यही स्थिति कक्षा 4 (पाठ 5, 'खेल प्रतियोगिता') में भी देखने को मिलती है। कक्षा 5 (पाठ-5, आओ! खेलें-खेल) में सबसे पहली बार लड़कियों को व्यापक रूप में दिखाया गया है (पृ. 24)। लेकिन खेलते हुए नहीं, सूर्य नमस्कार करते हुए।

इन विवरणों और चित्रों से लड़कियों व लड़कों के बीच लिंग विभाजन और अन्तर का 'आदर्श' रूप स्पष्ट हो जाता है। यही दृष्टिकोण छोटे-मोटे सवालों में भी दिखाई देता है। कक्षा 4 (पृ. 123) में सवाल हैः ''आपके पिताजी काम पर किस साधन से जाते हैं?'' क्या यही सवाल माताजी के बारे में भी नहीं पूछा जा सकता था? शायद इस पर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है, कि माताजी दाल पकाती हैं, लेकिन पिताजी दाल खराब हो जाने का वैज्ञानिक कारण बता सकते हैं। (कक्षा 5, पृ. 77-78)

कक्षा 7 (अध्याय 10, लैंगिक समझ और संवेदनशीलता) इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। इसमें नारी को गृह लक्ष्मी कहा गया है (पृ.76), इतिहास का एक संक्षिप्त वर्णन दिया गया है, जिसमें मध्यकाल को अंधेरे युग के रूप में दिखाया गया है, जबकि प्राचीन काल को महिलाओं के लिए गौरव का समय माना गया है। नारीवादी इतिहासकारों ने इन अवधारणाओं का खण्डन कई दशकों से किया है और दर्शाया है कि लिंगों का इतिहास जटिल है - इसे वर्ग, वर्ण व्यवस्था, धर्म, प्रादेशिक अन्तर के संदर्भ में ही समझना चाहिए। लेकिन इस प्रकार के शोध की झलक इस पुस्तक में देखने को नहीं मिलती है। इसके विपरीत 19वीं सदी के उपनिवेशवादी इतिहासकार, जेम्स मिल की तरह इस पुस्तक शृंखला में भी इतिहास शासक वर्ग के धर्म के आधार पर हिन्दू और मुस्लिम इतिहास में विभाजित किया गया है। और भी खतरनाक है लिंग भेद की परिभाषा - जिसमें स्त्री और पुरुष के बीच के प्राकृतिक अन्तर को इसका आधार माना गया और मातृत्व को ही औरतों के प्रमुख परिचय के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया गया है। नारीवादी चिंतकों ने दिखाया कि तथाकथित 'वैज्ञानिक' आधार पर लिंग विभाजन ही सामाजिक चिंतन से प्रभावित होता है। यह भी सामान्य ज्ञान की बात है कि शारीरिक अन्तर सिर्फ पुरुष और महिलाओं के बीच ही नहीं, पुरुषों के बीच और महिलाओं के बीच भी है। इन शारीरिक अंतरों को सामाजिक असमानता का आधार मानना तर्क संगत नहीं है। तो यह कहना (पृ. 77) ''इस प्रकार का अन्तर सभी जगह और सभी समय समान है'' प्रामाणिक नहीं है।

इसी अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए, कक्षा 8 (पृ. 59) में हम पढ़ते हैं : ''यदि बेटियों को सुरक्षा प्रदान नहीं की गई तो निकट भविष्य में उनकी संख्या कम होने से लिंगानुपात घट जाएगा। इसका समाज पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा एवं शादियों के लिए बेटियों की कमी और महिलाओं के प्रति अपराध जैसी कई समस्याओं का जन्म होगा।'' लक्षित किया गया है कि बेटियों की जिंदगी का कोई स्वतंत्र रूप ही नहीं है, उन्हें तब ही जीने का अधिकार है जब बहु या माता बनें। हालाकि यह समाज में एक प्रचलित धारणा है, शिक्षा का लक्ष्य इसे समर्थन देना नहीं बल्कि इस (और इस तरह की अन्य धारणाओं) पर विचार करना और वयस्क होने पर इसे बदलना है।

अगर इन पुस्तकों के अध्ययन से 'जेंडर संवेदनशीलता' बढ़ाना मुश्किल है तो इनके आधार पर आर्थिक विभाजन और वर्ण या जाति प्रथा को समझना भी लगभग असंभव है। कक्षा 3 (पृ. 120) में ही बताया गया है कि ''व्यक्ति अपनी रुचि एवं कौशल के आधार पर भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं और अपना जीवन यापन करते हैं जैसे - दर्जी, मोची, डॉक्टर, अध्यापक आदि''। कक्षा 6 तक आते-आते यह फॉरमूला रुचि और योग्यता में बदल जाता है (पृ. 61) रुचि और कौशल/योग्यता के अलावा मौके की जरूरत के बारे में बताने की कोई आवश्यकता महसूस नहीं हुई। सामाजिक और आर्थिक संरचना और इनके ढांचे के बारे में जानकारी के अभाव से विद्यार्थी की समझ अधूरी रह जाएगी। यह कक्षा 7 (अध्याय 7, जनसंख्या) से भी स्पष्ट है, जहां बढ़ती जनसंख्या को ही आर्थिक समस्याओं का प्रमुख कारण बताया गया है और हल सुझाया गया है, 'हम दो हमारे दो' यानी छोटे परिवार के आदर्श को अपनाना। इस संदर्भ में पुस्तक में आर्थिक संसाधनों के असमान वितरण पर चर्चा की कोई गुंजाईश नहीं है। अगर विद्यार्थी इस बात को बिना सवाल उठाए मान लें तो समस्याएं स्पष्ट हैं। अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाने के लिए वह अपने-आपको दोषी ठहराएंगे। इस प्रकार से सिर्फ व्यक्तिगत स्थिति पर ध्यान देने से एक जटिल सामाजिक संदर्भ को समझना और उसमें बदलाव लाने का सपना देखने का मौका समाप्त हो जाता है।

इन पुस्तकों में निहित धार्मिक अवधारणाओं के प्रयोग पर भी ध्यान देना जरूरी है। शुरू करते हैं कक्षा 3 से (त्यौहार, पर्व और जयन्ती, पाठ 13) जहां दीपावली के बारे में बताया है, ''इस त्यौहार पर सभी अपने घरों की अच्छी तरह सफाई कर सजावट करते हैं।'' यानी हिन्दुओं के त्यौंहार को ''सभी का त्यौहार' माना गया है, जबकि हिन्दू शब्द का इस्तेमाल नहीं हुआ है। इसके विपरीत ईद को मुसलमानों के साथ और क्रिसमस को इसाइयों के साथ जोड़ा गया है। जैसे जेंडर के संदर्भ में हमने देखा था कि आम विद्यार्थी की कल्पना 'बालक' के रूप में की गई है वैसे ही धार्मिक अन्तर को नकारकर आम विद्यार्थी की कल्पना हिन्दू के रूप में की गई है।

यह अवधारणा कुछ अंश तक विज्ञान की शिक्षा को भी प्रभावित करती है। उदाहरण के तौर पर कक्षा 5 (पाठ 7, वृक्षों की महिमा) में वृक्षों की पूजा का वर्णन मिलता है। उसी तरह से पाठ 24 (पहाड़ों की सैर) में पहाड़ों पर चढ़कर

मंदिर देखने की बात की गई है। इन पाठों में हिन्दू धर्म के अलावा अन्य धर्मावलम्बियों के लिए जगह अत्यंत संकीर्ण और सीमित है।

एक अन्य भाषागत समस्या पर नजर डालना भी जरूरी है। इस शृंखला में कई बार (उदाहरण कक्षा 6, पृ. 65) धर्म और पंथ को समानार्थक शब्द के रूप में प्रयोग किया गया है। कक्षा 7 (पृ. 75) में सवाल है ''पंथ निरपेक्षता क्या है?'' क्योंकि इन शब्दों का कानूनी और संवैधानिक महत्व है। अगर हम इनके संदर्भ न समझाकर समानार्थक शब्द के रूप में प्रयोग करें तो उनकी समझ में समस्या आ सकती है।

जाति प्रथा पर चर्चा का अभाव भी लक्षित किया गया है। कक्षा 6 में शब्दावली की व्याख्या में (पृ. 63) सामाजिक संस्थाओं की परिभाषा है विवाह, परिवार, जाति इत्यादि। इन सभी को समाज द्वारा मान्य संस्थाएं (''विवाह, परिवार, जाति इत्यादि समाज द्वारा मान्यता प्राप्त संस्थाएं हैं'') कहा गया है। अगर इस परिभाषा को मान लें, तो जाति प्रथा को चुनौति देना असंभव है। यह भी चिंता की बात है कि नृजातीयता की परिभाषा भी दी गई है (पृ. 69)। यह है, ''मनुष्य की प्रजाति, आर्य, द्रविड़ आदि संबंधी।'' इस प्रकार की संक्षिप्त सूचना से विद्यार्थी को इन जटिल सामाजिक वर्गीकरणों के इतिहास और इनके बारे में सोचने का अवसर नहीं मिलेगा। अन्य परिभाषाओं पर भी सोचना जरूरी है - कक्षा 7 (पृ. 70) में सामासिक संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है, ''सामासिक संस्कृति का आधार संस्कृत भाषा और साहित्य है जिसमें सहिष्णुता सन्निहित है''। इस परिभाषा में गैर संस्कृत भाषा बोलने और समझने वाले सामाजिक, प्रादेशिक और धार्मिक समुदायों का कोई स्थान नहीं है।

कुछ खिड़कियां

इनके बावजूद, कहीं-कहीं नई दिशाओं की झलक मिलती है। उदाहरण के तौर पर, कक्षा 4, पाठ 2 में एक लड़की की पढ़ाई पर निर्णय लेने की चर्चा है, और निष्कर्ष में उसको आगे बढ़ने का मौका मिलता है। उसी किताब के पाठ 3 (कैसे जानू मैं?) में लिंग शोषण की एक झलक मिलती है, एवं बच्चों को इसके बारे में सचेतन करने का एक प्रयास है - लेकिन उदाहरण यहां एक बालक का है, बालिका का नहीं। क्या इस चर्चा को कक्षा के अन्दर बढ़ाना संभव होगा या क्या लड़कियों के यौन उत्पीड़न की संभावना और अनुभव परदे के पीछे ही रह जाएंगे? या कक्षा 5 (पाठ 3) में दी गई ब्रेल और सांकेतिक भाषा का प्रयोग क्या खास बच्चों के साथ संपर्क स्थापित करने में किया जाएगा? अगर हां तो इस शृंखला पर आधारित पाठ्यक्रम से कुछ सीमित विकास की आशा की जा सकती है।

लेकिन इस शृंखला की मौलिक समस्याओं पर गहराई से सोचने और विचार करने की जरूरत है। यह दुख की बात है कि इन पुस्तकों में भी 'समाज और राजनीतिक जीवन' नामक शीर्षक से एक खण्ड है जो 2005 के राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा पर आधारित पुस्तकों में मौजूद खंड की ही नकल लगता है किन्तु इसके विषय 19वीं और 20वीं सदी के उपनिवेशिक नागरिक शिक्षा के आदर्श से प्रेरित हैं। इनमें नागरिक जीवन की एक संकीर्ण कल्पना उभरकर आती है।

यह पुस्तकें समाज के सबसे वंचित वर्गों के बच्चों के पास पहुंचेंगी, जिनका शिक्षा, समीक्षा और चर्चा करने का मौका सीमित है। उनके प्रति सरकार, सचेतन और सक्षम नागरिकों की एक विशेष जिम्मेदारी है कि उनको आगे बढ़ने का मौका मिले, सोचने का अवसर हो, सवाल उठाने का अधिकार हो। अगर हम उन्हें सिर्फ आज्ञा पालन करना सिखाएंगे, तो यह उनके प्रति नाइंसाफी होगी। इसके लिए सिर्फ सही तथ्य ही नहीं एक तर्क संगत शैक्षणिक ढांचा, जिसमें विद्यार्थी और उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति के प्रति सम्मान की भावना प्रकट हो यह आवश्यक है। ◆

लेखिका परिचयः कुमकुम रॉय, ऐतिहासिक अध्ययन के लिए केन्द्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रही हैं एवं वर्तमान में नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय (The Nehru Memorial Museum and Library) में सीनियर फैलो हैं।